श्रीअरविन्द

वेदार्थ-दीपिका

रविन्द सोसायटी पाण्डिचेरी

H
294.1
Ar68V

प्रकाशकीय

श्रीअरविन्द "आर्काइव्ज व रिसर्च जर्नल के दिसम्बर १९८५ की पत्रिका में एक बहुत ही महत्वशाली लेख है जो पहले कभी नहीं छपा था। श्रीअरविन्द ने यह लेख लगभग सन् १९१३ में लिखा था। लेख का शीर्षक सिर्फ 'चेप्टर वन' था। निश्चय ही यह वेदों के विषय में लिखी जाने वाली अधूरी पुस्तक का पहला अध्याय था। हमने इस पुस्तिका का शीर्षक "वेदार्थ-दीपिका" रखा है।

इस लेख से सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि श्रीअरविन्द वेदों के संबन्ध में ग्रंथ विशेष लिखना चाहते थे। अवश्य ही श्रीअरविन्द ने वेद रहस्य, अग्निमंत्रमाला इन दो ग्रन्थों की रचना की। अतएव यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रस्तुत लेख लिखने के पश्चात् उन्होंने सम्पूर्ण ग्रंथ रचना की आवश्यकता न समझी हो।

प्रस्तुत लेख में श्रीअरविन्द ने वेदों के महत्व को समझाया है और सब भारतीयों के लिये वेदों का अध्ययन अति आवश्यक है यह बात बलपूर्वक

Library IIAS, Shimla
H 294.1 Au 68 V
00099609

घु पुस्तिका के रूप में प्रकाशित करवाया
ौर पुस्तिका का नाम है 'श्रीअरविन्द आन
ा हिन्दी अनुवाद है जिसे आश्रम के वरिष्ठ

-प्रकाशक-

मूल्य रु. 5.00

© श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट

प्रकाशकः श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी-- ६०५००२

अध्याय १

प्रारंभिक युग से वेद हमारी जाति की अजेय परम्परा में हमारे समस्त धर्मों और सम्प्रदायों की आधारशिला है। अपनी इस छिपी हुई प्राचीन वाग्देवी में हमारी संपूर्ण भारतीय आध्यात्मिकता की फलप्रसू माता को हमने सदैव अविचल विराजमान देखा है। यह और कुछ नहीं, वह सरल सत्य है जिसे जब कभी हम ऊपरी सतह के नीचे और छोटे-मोटे विवरण जालों से आगे बढ़कर देखेंगे तो यह सत्य सामने आयेगा कि सभी दर्शन, सम्प्रदाय और पन्थ जिनकी कोई भी जड़ हमारे भारतीय स्वभाव में है अथवा भारतीय वातावरण में बसे रहने और जीवन्त रहने के लिये उनके बाहरी हाव भाव में न हो तो भी उनकी छुपी प्रकृति में सनातन वैदिक प्रेरणा का शिशु होने का भाव विद्यमान है। धर्म-जीवन के सारे आवेग जो हजारों वर्षों की कालावधि में हमारी जाति की प्राण-शक्ति की फलवत्ता और प्राचीन संस्कृति की सनातन समृद्धि को बनाए रखने में सहायक रहे हैं, हमारी अमर आध्यात्मिक उपलब्धि और प्रयासों की सूक्ष्मता और गंभीर सत्य को आधार देने और नवीनीकरण हेतु सहायक रहे हैं, उनके सुदुर उद्गम का अन्वेषण करनेके लिये प्रयत्नशील होने पर हम जानते हैं कि वे वेदके शब्द और सार से उत्पन्न हुए हैं। हमारे धर्मों के सारे नवप्रवर्त्तक, पुनः प्रतिष्ठापक और व्यवस्थापकों ने इसे अपने क्षेत्र में जाने- अनजाने, मनसे- बेमनसे सद्भाव से या इच्छा के विरुद्ध, किसी दूर युग से प्राप्त स्पन्दन के कारण प्राप्त किया है। हमारे दर्शन, तंत्र, पुराण, शैव-शाक्त-वैष्णव मत, यहाँ तक कि हमारी रूढ़िवादिता, नास्तिकता, विधर्मिता भी, जब परस्पर पूर्णतया गैर-समझ की स्थिति में हों तब भी वे एक ही वैदिक सत्य की अधूरी जानकारी देते हैं। शंकर ने वैदिक सत्य की मूर्धा का आलिंगन किया और रामानुज ने इसके हृदय का, पर दोनों ही प्रतिवादी एक ही गुप्तदेव के विग्रह की

आराधना में लीन हैं। यह परम विस्मय है। हमारे महान आधुनिक मनीषी भी प्राचीन ऋषियों की उपनदी मात्र हैं। महान विभूति लगने वाले शंकर ने भी उनके ज्ञान के अंश मात्र प्राप्त किया। बुद्ध उनके सार्वभौम साम्राज्य के उपमार्ग पर भटक गये। हमारे युग में रामकृष्ण परमहंस ने वेदों के सारतत्त्व को अपने जीवन में चरितार्थ किया और प्रवचन में मूर्त्तिमान किया। विवेकानन्द ने उसे नानाविधि चिन्तन और वाक्पटूता के तेज से चारों दिशाओं में फैलाया। वेद हमारे आध्यात्मिक ज्ञान का अथ था और वेद ही उसकी इति में रहेगा। अज्ञात पुरा काल की यह रचना शाश्वत सरस्वती के अनेक पयोधरों के समान हैं जिसका पयपान सभी परवर्त्ती युगों ने किया है।

फिर भी अपने इस शक्तिशाली उद्गम को हम कितना समझ सके हैं? चारों वेद जिस भाषा में लिखे गये हैं वह हमारे लिये अबोध हो गयी है। जिस शब्दावली में ये लिखे गये वह आधुनिक संस्कृत से अलग होने के कारण उसके साथ समानता, पंडितों का पांडित्य और चातुर्य प्रदर्शन और सहज रूप से मिथ्या-बोधार्थ अनुपम अवसर प्रदान करती है। वेद-निहित गंभीर धार्मिक मनोवैज्ञानिक सत्यों की अभिव्यक्ति तथा प्रतीकों की पारिभाषिक पदावली के लिये जिस प्रणाली का प्रयोग हुआ है उसकी कुंजी हमने सदा के लिये खो दिया है। अतः वे आज भी हमारे लिये पवित्र किन्तु सीलमुहर बन्द ग्रंथ मात्र रह गये हैं। प्राचीनचर युग में भी उनका रहस्य अपूर्ण ज्ञात था और समय की धारा मैं अपने उद्गम से दूर प्रवाहित हम उनकी पावन अवज्ञा की आदर युक्त विस्मृति के गर्त मैं पतन के अनुमतिदाता हैं। प्रबल प्रश्नविहीन रूढ़ि-वादिता के कारण समीक्षात्मक भावना के कर्त्तव्य से मुक्त वे संशोधक केवल यही क्षणिक कल्पना कर लेते हैं कि उनके अर्थ की कुंजी सायण के पास है। यूरोपीय संशोधकों के आगमन और श्रम के कारण ये दिव्य सूक्त चिरकालीन गुप्तता और अवेहलना से बचे किन्तु इनके रहस्य पर कोई प्रकाश की किरण नहीं पड़ी। यदि भारतीय वेदों का अर्थ नहीं अधिगत कर सके तो यूरोपीयों ने आमूलचूड़ मिथ्याबोध की पद्धति प्रतिष्ठित कर दी। उनकी भौतिकवादी

व्याख्या आज सुशिक्षितों में प्रभावशालिनी है। आधुनिक भाषाओं में उनका अनुवाद हुआ, विश्वविद्यालयों में वह पढ़ाई जाती है, लेखनी और वाणी से उसका निःशंक प्रसार हुआ। यह हमारे अज्ञानपूर्ण भक्तिकी अपेक्षा वैदिक सत्य के लिये अधिक घातक सिद्ध हुआ है। क्योंकि यह परम प्राचीन वैदिक संरचना आधुनिक और परकीय मानस मैं संक्रमित हो रहे हमारे समक्ष विचित्र भ्रम निवारक वेश में उपस्थित की जाती है। यद्यपि यह वेश हमारी कल्पना में अब अंधकाराच्छन्न नहीं है फिर भी हमारी बोध शक्ति के किए असंस्कृत सारहीन और बर्बर प्रतीत होती है। शाब्दिक विसंगतियों और स्वछंद कल्पनाओं से भरी बौद्धिक निःसारता भरी वे संरचनायें उन आदिम असभ्यों की कृतियाँ लगती हैं जिनका मन विचित्र रूप से कुटिल और असत्यनिष्ठ तथा भौड़ी कल्पना का प्रदर्शन था। यथार्थ में तो यह विचित्र फंदा आधुनिक स्वांग है। यूरोपीय संशोधकों ने पशुता के बाद पुनः पतनोन्नुख मानव के बाहरी अध्ययन में प्रागैतिहासिक मानव का कपोल कल्पित मनोविज्ञान अपने लिये गढ़ लिया है। इस मनोविज्ञान के अन्दर मिश्र के दार्शनिक-सांस्कृतिक अलेक्जेन्ड्रियन संप्रदाय के कुटिल अहंकारी दंभिक विचारों को खोज लिया गया है जिसकी परिकल्पना समृद्ध रूप से संग्रहीत शीघ्र निर्माणकारी आधुनिक पांडित्य प्रदर्शक कल्पना में सम्भव था। इस मिलावट को उन्होने हमारे सामने वेद के सुनिश्चित अर्थ के रूप में रखा। अपना मत वे तुलनात्मक भाषा विज्ञान, तुलनात्मक गाथा विज्ञान, पुरातत्त्व जैसे अपूर्ण विज्ञानों के आधार पर प्रतिष्ठापित करते हैं जिन्हें गंभीर वैज्ञानिक स्वीकार नहीं करते ये शास्त्र आनुमानिक विज्ञान की शाखायें हैं जो महान प्रकाशप्रद ज्ञान विद्याओं के धुंध भरे उदय जैसी है किन्तु वे स्वंय इतनी अधकचरी, अधपकी और सुनिश्चित आधारभूत नियमों से इतनी विहीन हैं कि इन्हें भावी संशोधनों में उतना प्रमाणिक नहीं माना जा सकता। जैसे जर्मन-स्विस दार्शनिक पैरासेल्स और उसके समकालीनों के प्रारंभिक अन्वेषणों को आधुनिक रसायन विश्लेषक नहीं मानते। यदि भावी अनुसंधान में वे प्रामाणिक न हों

तो वे ज्ञान के जीवन खोजियों के लिये भी अनिवार्य नहीं माने जा सकते। भारत में पैदा हुआ शोधकर्त्ता जो जीवन और अवकाश को आज का वैदिक अनुसंधान में लगाना चाहे तो वह परिकल्पनात्मक गवेषणा के रोचक और स्वच्छन्द शाखा का आनन्द ले सकता है। इसमें उसको अपनी कल्पना शक्ति की क्रीड़ा का यथेष्ठ अवसर, हर्षपूर्ण संतुष्टि तथा अत्यंत अमर्यादित उछलकूद के लिये स्वतंत्रता भी मिलेगी। किन्तु इस प्रयास से और अधिक गंभीर परिणाम की आशा नहीं करनी चाहिये। जैसे यास्क और सायण ने पांडित्यपूर्ण पुरुषार्थ से और बाद में राथ और मैक्समूलर के विलक्षण प्रयासों के बाद भी वैदिक मन्त्र हमारे लिये वैसे ही हैं जैसे वे सहस्त्राब्दियों तक खोई ज्योति और मुहरबन्द रहस्य के अन्धकार में थे।

आधुनिक वैज्ञानिक भौतिकवाद के दबाव में आकर जो बर्बरमानव को, पूर्णविकसित, मानव रूपी मधुमक्खी या चींटी को इसकी चरमनियति मानते हैं, रहस्यमय वेदों के प्रति आदर भावना से अलग हट कर, भारतीय आध्यात्मिकता ने प्राचीन योग गुफा की आवश्यकता अनुभूत की जिसमें यह गहनतर ज्ञान और सूक्ष्मतर आदर्श का पोषण कर सके। उसने किसी लंगर की आवश्यकता अनुभूत की, जिससे इस बाढ़ के धावे में भी अपने स्मरणीय विगत काल से अपने को बाँधकर रख सके। यह जो खोज रही थी वह उपनिषद में प्राप्त हुआ। यद्यपि यूरोपीय ही हमारे आधुनिक अधिकारी हैं जिनकी अनुमति बिना हम कुछ भी विश्वास करने में, ज्ञान पानेमें या उपयोगी प्रयोग करने में अपने को असमर्थ पाते हैं। उन्होने भी उपनिषद की गम्भीरता उदारता और सूक्ष्मता को स्वीकार किया है। अतः वेदों का त्याग करके भी हमने वेदान्त को सम्मान देने में सुरक्षा की अनुभूति की। साथ ही हमने यह प्रतिपादित करने में सन्तोष अनुभव किया कि यूरोपीय और भारतीय अधिकारी एक मत हैं। शोपेनहार ने उपनिषदों की शंकराचार्य की व्याख्या स्वीकार की। उन्होंने रामानुज के विशिष्टाद्वैत को आकार दिया और इमर्सन के विश्वातीतवाद को प्रभावित किया। इससे महान दर्शनों की

उत्पत्ति हुई जिसे यूरोपीयों ने प्रशस्ति, प्रोत्साहन और आश्चर्यचकित होकर तथा भारतीयों ने दासतुल्य गर्व से स्वीकार किया जो काण्ट और हीगेल के दार्शनिक विचारों के समकक्ष या लगभग समकक्ष है। दमित भारतीय मानस ने इस हीनतर पराजय को स्वीकार करके भी, उनसे पृथक एक सच्ची निवृत्ति और सान्त्वना की अनुभूति की तथा सच्चे आध्यात्मिक भारतीय पश्चिमी संदेहवाद की कोलाहल पूर्णशक्ति के प्रभाव से पीड़ित होकर उपनिषद की वह आश्रयशिला प्राप्त कर सके हैं जिसके आधार पर प्रलयंकर जल प्रवाह के अवश्यम्भावी ह्रास तक वे प्रतीक्षा कर सकते हैं। यहाँ उन्होंने वह अधिकार प्राप्त किया जिसके विषय में यूरोपीय संदेहवाद तक थोड़े सम्मान भाव से बोलने को विवश था। वह प्रकाश भी मिला जिसे पश्चिम के भयंकर तूफान भी न बुझा सके।

किन्तु ये साधारण और अस्थायी विचार हैं। इन्हें एकत्र कर समीक्षात्मक बुद्धि का प्रयोग करते हुए बिना पूर्वाग्रह के सत्य को देखें, जब हम द्वादश उपनिषिदों का सावधानी से ध्यानपूर्वक आद्योपान्त अध्ययन करें, तो हम इनका अंश समझ पाते हैं ? मैं मानता हूँ कि यदि हम अपने प्रति सत्यनिष्ठ हों तो हम कहेंगे कि :— मैंने जो पढ़ा उसके आधे का कोई अर्थ नहीं जान पाया, बाकी आधे का अधिकांशतः अनिश्चित रूप से दूसरे के मुख से सुनकर जान सका न कि भौतिक रूप से। कमोवेश या महत्त्वपूर्ण, बाकी अल्पतर भाग निश्चिन्त रूप से पूरे का पूरा नहीं जानता।

ईशोपनिषद अत्यंत संक्षिप्त, सरल, अनलंकृत उपनिषद है। यदि हम उसके अठारह ग्रंथों को देखें और जरा ध्यानपूर्वक मनन करें तो शीघ्र ही पता चल जायगा कि हम वास्तव में कितना कम समझ पाते हैं। पहले तीन श्लोकों की शंकर ने जैसे व्याख्या की है उसका भाव हम 'कुर्वन्नेह कर्माणि' और 'न कर्म लिप्यते नरे' ऐसे पदों से गीता में अभिव्यक्त कतिपय संबन्धित अभिव्यक्तियों से यथासंभव जोड़कर समझ पाते हैं। आगे के दो मंत्रों में हम 'ब्रह्मन्' के परमोच्च विश्वमयता के अस्पष्ट विचार पाते हैं। किन्तु उपनिषद

के शक्तिशाली और प्रभुविष्णु पदों का किसी तरह से यथार्थ भाव निश्चित नहीं कर सकते। छठे और सातवें मन्त्रों के परम उत्कृष्ट भावों को जरा स्थूल रूप से समझ पाते हैं क्योंकि वे पर्याप्त स्पष्ट हैं। इन पदों के साथ गीता की सुपरिचित पंक्तियों की समस्वरता है और यह विशिष्ट साधना द्वारा मध्य युग और आधुनिक भारत के सन्तों, साधुओं और योगियों के जीवन और आचरण में प्रधानता प्राप्त कर चुकी है। आठवें मंत्र से हमें पुनः ईश्वर और ब्रह्म के विषय में धुंधले विचार प्राप्त होते हैं। बाद के ६ श्लोकों में शंकर और अन्य भाष्कारों के विचित्र उलट-फेर से उत्पन्न आधे स्पष्ट आधे अस्पष्ट अंधेरे में भटक जाते हैं। इस उपनिषद के बाकी भाग में हम "यो ऽ सौ पुरुषः सोऽहमस्मि" इस पदावली में प्रतिपादित केन्द्रीय चिन्तन को स्पष्ट रूप में समझ पाते हैं। किन्तु बाकी का कुछ नहीं समझ पाते। हम उस "हिरण्मयेन पात्रेण" का कोई भी स्पष्ट चिन्तन संयुक्त नहीं कर पाते जिससे सत्य का मुख ढका हुआ है जो न तो सूर्य रश्मियों के व्यूह और समूह से और न तो सूर्य के 'कल्याणतम रूप' के साक्षात्कार से अवरोधित है। हमें विचार और अनुभव में वह कुंजी नहीं प्राप्त है कि अग्निदेव का सम्बन्ध पाप को दूर करने या 'सन्मार्ग पर आनन्द की ओर' प्रयाण करने के साथ क्या है? क्योंकि ये वैदिक प्रतीक हैं। हम वेदों के विषय में यूरोपीयों की मिथ्या व्याख्या को ही जानते और मानते हैं। यह व्याख्या इन प्राचीन चिन्तन में और उसके सम्बन्धों के विषय में कोई सूत्र नहीं प्रदान करती। हमारी मान्यतानुसार उत्तरकालीन सरलतर उपनिषदों में भी यही अनुभव प्राप्त होगा। हमें लगेगा कि हम उतना ही समझ पाते हैं जितना बाद के वेदान्तिक दर्शनों के प्रमुखतर सिद्धांतों में प्रवेश पा चुका है मानसिक परिचय हमें करा दिया है। या गीता के समान परवर्ती शास्त्रों में सम्बन्ध भाव के साथ ओत-प्रोत हैं। शंकर ने जिन कम परिचित विचारों को सुना है; जिनकी वे हमें व्याख्या कर पाये हैं, हम कम स्पष्टता से समझते हैं। सर्वदा ही कुछ बच जाता है जिसका बोध हमारे मानस में जरा भी नहीं होता।

यद्यपि प्रश्नोपनिषद को छोड़कर अन्य गौण उपनिषदों में उसके बचे भाग की मात्रा इतनी अधिक मात्रा में तथा वैविध्य में नहीं है कि भ्रम का कुछ भी प्रभाव पैदा कर सके। किन्तु उन गुरु गंभीर उपनिषदों में जो बृहत्तर योजना से रचित है और जो प्राचीन वेदान्त के प्रचुर भाग हैं जैसे छान्दोग्य, वृहदारण्यक, कौषीतकी, तैत्तिरीयोपनिषद भी इस अबोध अवशेष के विशाल अंश, संभवतः ग्रंथ के प्रायः विपुल भाग हो जाते हैं। प्रायः हमें लगता है कि हम इस विचित्र-वृक्ष वनस्पति, जीव-जन्तुओं से भर विशाल उष्ण कटि बन्धीय जंगल के हैं जिसके बीच से कोई राजमार्ग, उपमार्ग नहीं जाता। भाग्यवशात् इसमें स्वच्छ प्रदेश हैं। सुभास्वर, सुपरिचित तारागण ऊपर चमक रहे हैं। किन्तु अन्यत्र सर्वत्र पल्लव, उत्कटगन्ध पत्र, अज्ञात पुष्प, आश्चर्यमय प्रभोज्वल बल तोरण विभूषित कन्दमूलों के व्यूह का घना जंगल है। इन परस्पर गुंथी शाखाओं में हम बँधे हैं या हमारे पैर फिसल जाते हैं। यहाँ प्रतीकवाद का गाम्भीर्य और वैचित्र्य है। प्राचीन और अपरिचित अभिव्यंजना का प्राचुर्य, भ्रान्तिजनक मनौवैज्ञानिक अनुभव का वैभव, जिसे कम आलंकारिक मूर्त भाषा में व्यक्त करना अशक्य है जो हमारी सहज प्राप्ति और सक्रियता में रुकावट डालता है किन्तु अधिक छिछला और सतही आधुनिक अनुभव है। हमें यह सोचने का अधिकार है कि इस वन में प्रवेश करना उचित है क्योंकि यह फूलों जैसा चिड़ियाँ फँसाने के जाल का अरण्य नहीं है बल्कि लाभदायक समृद्धि से पूर्ण है। हम समझ सकते हैं कि हम कतिपय गम्भीरतम और अत्यंत सांकेतिक विचारों के सामने हैं जिन्हें मानव ने सृष्टि के रहस्य के विषय में आविष्कृत किया था। भावना और प्रतीकों का पूर्णतया अवगाहन कर उसके साथ आत्मा का एकीकरण करके पाया था। जिसमें पूर्ण प्रवेश कर वृहदारण्यक के द्वितीय अध्याय में विचार और बिम्बों के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं। यद्यपि 'अशना' या 'मृत्युः' क्षुधा या मृत्युरूपा भौतिक जगत निर्मात्री, इस केन्द्रीय विचार की अपेक्षा दार्शनिक साहित्य विरल ही है। किन्तु इस जंगल में पथप्रदर्शक कौन होगा ? इस उपनिषद में जो तमसा-

च्छन्न है उसे कौन आलोकित करेगा ? या कौन आधुनिक चिन्तन में तीव्र और बधिरकारी तरंगों को जीतकर मानवीय अनुभवके सुदूर, अगाध गाम्भीर्य में निमज्जन करके प्राचीन ऋषियों की दिव्य दृष्टि, प्रतिभिज्ञा और अनुभूति को हमें पुनः प्राप्त करा सकता है ?

निःसंदेह यह, हमारे यूरोपीय मार्गदर्शक, जिनके वेदार्थ का हम निर्विवाद विश्वास करते हैं, नहीं कर सकते। क्योंकि प्राच्य चिन्तन में जिस अंश का अर्थ वे नहीं समझ पाते या जिसकी विवेचना नहीं कर पाते उसके साथ वे सरसरी तौर पर ही व्यवहार करते हैं। ये अंश इनके लिये कूड़ा है। वेदान्त के किसी महान प्रशंसक ने कहा है 'ये मानवजाति के शैशव की तुतलाहट है।' ये ऐसे विषय और स्थितिसे पीछा छुड़ाना यह कहकर आसान बना लेते हैं कि प्राचीन वैदिक मनीषियों के उच्चतर चिन्तन में जो अलौकिक उत्कृष्टता और प्रज्ञा है साथ ही उनके विचारों में जो बचकानापन, बर्बरता और मूढ़ता है इन दोनों के बीच साहित्यिक विरोध स्पष्ट है। यह प्रक्रिया उन्हें आगे के अनुसंधान के कष्ट से बचा लेती है। किन्तु वे जो समझने या विश्वास करने की क्षमता नहीं रखते वह अवश्य ही निरर्थक है यह अविवेकी और धृष्ट संकल्पना को सत्य और धैर्यपूर्ण निष्पक्ष चिन्तन में जितना संकट है, उसके अतिरिक्त जो मनोवैज्ञानिक वाधा निहित है, उसे देखते हुए आराम से स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि उपनिषदों में बहुमूल्य माना गया भाग ही निःसंदेह प्रतिभापूर्ण बौद्धिक चिन्तन है तो कल्पना की जा सकती है कि प्रारंभिक बर्बर अकुशलता से प्रगट होता हुआ मानव मन, धुंध और धुंए से मुक्त हो पाये बिना, जिसमें इसका बहुत सा अंश आज भी आवृत है, भास्वत और प्रभा की सरणिके रूप से ही अपने से उर्ध्व को आरोहणशील है। इससे हम उपनिषद की निरर्थक मूढ़ता के साथ उदात्त प्रज्ञा के अन्तर्मिश्रण की व्याख्या कर सकते हैं। किन्तु हमें उपनिषदों में जो मिलता है वह दृढ़तर और स्थायीतर है। हम अपने को उनके बौद्धिक चिन्तन के बराबर नहीं पाते हैं जो अपने से आगे ले जा सके। किन्तु शाश्वत सनातन सत्य और आध्या-

त्मिक अनुभवों के स्थायी और सर्वथा प्रमाणित संस्थान के निकट पाते हैं। यह संस्थान न केवल गंभीर बल्कि ध्यानपूर्वक संबंधित है। न केवल आश्चर्यजनक रीति से मर्मवेधी बल्कि नियमित और सुव्यवस्थित हैं। इसके अनुभव क्रियात्मक मनोविज्ञान के पूर्णतया बोधगम्य और चिरप्रतिष्ठित विद्या में अधिगत है। वह विद्या अद्यावधि स्वंय शैशवास्था वाले आधुनिक मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों से समर्थित हो या न हो, किन्तु शोधकर्त्ता मनीषियोंके हजारों वर्ष व्यापी क्रियात्मक परीक्षण के क्षेत्र में प्रकाशित है। ये शोधकर्त्ता न केवल बौद्धिक सत्य के बल्कि उनके महत्त्वपूर्ण यथार्थ और सत्यापनीय अनुभवों के सघन गवेषणा में रत थे जो जीवन मरण की अपेक्षा गंभीरतर अर्थों के थे। जहाँ कहीं भी इनका परीक्षण हुआ है, यह पुरातन पद्धति सर्वदा परीक्षा में खरी उतरी है। वैज्ञानिक अनुसंधान में इस प्रकार का सतत समर्थन पद्धति की सत्यता का निर्णायक माना जाता है। चाहे जो हो, यह सत्य है कि उपनिषदों के प्रणेता बचकाने विचारक नहीं थे जो मनमानी अटकलें लगायें। वे सावधान अन्वेषक थे जिनके पास न केवल तर्क प्रणाली बल्कि सम्बोधि तत्व की महान पद्धति भी थी। तथापि वे उसके रूपांकन हेतु कर्मठ परीक्षण और गवेषक शोध का अनुसरण करते थे। वैदिक चिन्तन के इस पक्ष को यूरोपीय मन समझ नहीं सकता जिन्हें भारतीय अनुभव विजातीय, काल्पनिक और अस्वीकार्य लगते हैं। किन्तु उपनिषद में सुरक्षित सत्य इस योगाभ्यास के परीक्षण पर प्रतिष्ठित है, उनके लिये प्राचीन वेदान्त का यह रूप वास्तविक सुस्पष्ट और अप्रतिषेध्य है। जो अट्टालिका हमें काल्पनिक और अस्वाभाविक दिखाई देती है उसे आदर पूर्वक स्वीकार करके भी उसके अधिष्ठान को अस्वीकार करना मिथ्या तर्क मूलक है। उपनिषद वर्तमान स्वरूप में पूर्णज्ञान और बाल जल्पनाओं के मिश्रण नहीं हो सकते। ऐसा असामान्य और विचित्र संयोग ऐसी स्थिति में न केवल आत्म विरोध है बल्कि मनोवैज्ञानिक असंभावना भी है। यही सत्य है कि वे उपनिषद अलंकारिक भाषा में लिखे गये हैं जिसे समझने की कुंजी हम खो चुके हैं। किन्तु उनमें अनेक महत्वपूर्ण

विचार हैं जिन पर परवर्ती दार्शनिक चिन्तन का कोई प्रभाव नहीं है। यदि वेद बाह्य कर्मकांड के अतिरिक्त हमारे लिये तमसाच्छन हैं तो उपनिषद अपने केन्द्रीय विचार और वृहत्तर निर्देशों में ही हमें स्पष्ट हैं।

किन्तु इतनी तमसाच्छन्न या कमसे कम अपूर्ण रूपसे समझी गई रचना कैसे हजारों हजार वर्षों के चिन्तन पर वृहत् और व्यापक प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ हुई ? हम जानते हैं कि यह प्रभाव इतना व्यापक है कि सारा भावात्मक भारतीय चिन्तन, यहाँ तक कि बौद्ध दर्शन भी अपने मूल रूप निर्णायक भूल भाव में वैदकि कहा जा सकता है भले ही अपनी बाह्य भूषा और सुगठित स्वरूप में यह वैदिक न लगे या वेद विरुद्ध भी हो। चिन्तन में अपने जीवन के पुनः सर्जन हेतु साधारण प्रत्यक्ष भौतिक साधनों की अपेक्षा अन्य साधन भी हैं। जब उसे वाणी और लेखनी द्वारा अपने प्रसार से वंचित किया जाता है तब वह सचेत मानस से लुप्त होकर भी पुनः लौट सकती है, अपने को व्यक्ति में पुनः उपलब्ध करा सकती है, यह पुनरुपलब्धि बहुत सामान्य है। न केवल व्यक्ति में किन्तु जाति में भी अत्यन्त सामान्य प्रक्रिया से यह पुनरुपलब्धि संभव है। हम मनोविज्ञान की क्रिया अभी तक सम्यक रूप से नहीं जानते, हम यथार्थ में यह नहीं जानते कि हमारे मानस की अवचेतन क्रिया को किस साधन से कौन सी शक्ति परिचालित करती है। किन्तु विराट् विश्वात्मा अपने रहस्यमय कार्य हेतु जो प्रक्रिया प्रयोग करता है उसका कुछ अंश हमें स्पष्ट हो रहा है। भौतिक अनुवांशिकता निश्चय ही उनमेंसे एक है। सत्य है कि विचार परम्परागत नहीं होते, किन्तु मानसिकता का प्रारूप, मानसिक प्रवृत्तियाँ प्रत्यक्ष में भौतिक रसरक्त में संचरित होती है। किन्तु मानसिकता, स्थिर रूप से विचार का प्रारूप, भारतीय जाति की रचना के प्रारम्भ में ही स्थिर हो गया, वह बाह्य प्रभेदों में कभी परिवर्तित नहीं हुआ, अतः भारतीय मानस के मूलभूत चिन्तन में पुनरूपलब्धि की प्रवृत्ति है। मानस की जो दिशा वेदकालीन मानसिक प्रारूप के लिये अत्यन्त स्वाभाविक

है, सरल रीति से पुनरावर्तित होती है और पुरातनरीति नीति का जरा सा संकेत वचनारम्भ हेतु आवश्यक है ।

किन्तु भौतिक अनुवांशिकता अपने में पर्याप्त नहीं है और न तो वह मानव की तथा राष्ट्र की मानसिकता की सुदृढ़ स्थिरिता में एक मात्र भौतिक उपादान है । मेरी मान्यता है कि जैसे-जैसे मनोविज्ञान विकसित होता है, वैसे-वैसे यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया जायगा कि जैसे मनुष्य एक समान भौतिक वातावरण में निवास करते हैं, अपने भौतिक वातावरण में स्थित प्रवाह, सार तत्त्व, पड़ोसियों और अन्यों की भौतिक अवस्था को प्रभावित करते हैं । इस तरह हम अधिकाधिक एक ही मानसिक वातावरण में निवास करते हैं । अपनी मानसिक अवस्था और क्रियाओं में प्रभावित होते हैं जो हमारे समीप्य को समानतया प्रभावित करते हैं । समूह मनोविज्ञान, महान वैचारिक आन्दोलनों का सम्बद्ध कार्य, सर्व सामान्य प्रवृत्तियों के विकास की तीव्रता, विभाजित देशों की समकालीन संवर्धना में, मानसिक वातावरण की शक्तिशालिनी क्रिया पर्याप्त प्रत्यक्ष है । इन प्रत्यक्ष तथ्यों ने विचार तरंगों की धुंधली कल्पनाओं को जन्म दिया है । ये जड़ प्रकृति की विद्युत तरगों जैसी है । किन्तु यदि हम इन ऊपरी सतह के प्रभावकारी दृश्यों में सीमित न होकर उसके स्थान पर सामान्य और अस्पष्ट क्रियाओं में गहरे पैठें तो हम सक्रिय क्रियाओं के साथ-साथ मानसिक वातावरण की लगातार अचल अवस्था के दबाब में आ जाते हैं जिसमें युगों-युगों में भेद तो है किन्तु ऐसा मूलतः परिवर्तन शायद ही हुआ हो । ये तरंग धाराएं हममें ऐसी पूर्व कल्पना उत्पन्न करती है कि कोई शाश्वत समुद्र है जिसमें ये उठती हैं और विश्राम हेतु पुनः लीन हो जाती हैं । इस वातावरण समुद्र का दबाव किसी महाद्वीप या राष्ट्र की मानसिकता का निर्धारण अधिक स्थायित्वसे करता है । समस्त क्रान्तियों और ऊर्जाभरी क्रियाओं के बाद मानवता पुनः अशेष अर्जित ऐश्वर्य के साथ उस समुद्र में विलीन हो जाने को प्रवृत्त होती है । आत्मसात होनेके लिये उसका विलय प्रायः दीर्घ अन्तरालकी अपेक्षा रखता है । मनोमय वातावरण की अपनी आवश्यकताएं और विधि विधान होते हैं । यदि कुछ भी

नवीन या विजातीय इसे करना होता है तो उसे वह अपने विम्बोंमें परिवर्तित कर लेती है। फिर भी ऐसा आभास होता है कि जब यह स्वयं आत्मसात करती है तो वह सभी को अस्वीकृत कर देती है जो इसकी स्थायी संरचना आमूल चूड़ विखण्डित कर देना चाहते हैं। यह अनन्त रूप से एक साथ नम्र और नमनीय चरित्रमें अनन्त रूप से अटल हैं। इसने तात्विक बुद्ध मत को भारत से बाहर निकाल दिया और उसकी जगह विशाल मनोरथ सृष्ट जटिल हिन्दु प्रभावापन्न बौद्ध मत की प्रतिष्ठा की। इसने गुह्यवाद को विरेचन करके यूरोप से बाहर निकाल दिका। उच्चकोटि के कोमल, सूक्ष्म, पूर्वीय मनोविज्ञान से समन्वित ईसाई पन्थ के स्थान पर पुरुषार्थी, बहिर्मुख, मतान्ध, जड़वादी, व्यावहारिक पंथ खड़ा कर दिया। व्यष्टि और समष्टिगत मानव भी जरा से आवेग में परिवर्तन हेतु प्रस्तुत हो जाते हैं किन्तु मानसिकता का विवशकारी दवाव उन्हें आमूलाग्र परिवर्तित होने से रोकता है। अतः जब हम सोचते हैं कि हमने क्रांति कर ली है तो हम देखते हैं कि हमने वाहरी पुनर्व्यवस्था की है या पुरातन सत्य के वेश को बदल दिया है। हमारे अन्तस्थ तत्त्वों की आत्मा पूर्ववत रहने की प्रयासी है क्योंकि गतिशीलता में स्थैर्य हमारी सत्ता का दृढ़ नियम है और स्वस्थ रूप से जीवित बचे रहने की उपयुक्त अवस्था है। विश्व प्रकृति लम्बे समय की अव्यवस्था में घातक अवनति का संकट उपस्थित होने पर भी हमें इस परिवेश और स्थिति में सुस्थापित रखती है। इस पेचीदे मानसिक वातावरण में, जिसमें हम निवास करते हैं और मानसिक प्रेरणा पाते हैं मानसिक सांस लेते हैं, सारे विचार प्रवेश करते हैं, वहाँ वे अंधेरे में छिपे होते हैं, बहुत से विखण्डित हो जाते हैं किन्तु कोई भी पूर्णतया लुप्त नहीं होते हैं। उचित परिस्थिति में वे अपने को पुनः अभिव्यक्त करने के लिये वे अपनी संरचना को पुनर्व्यवस्थित करने के प्रयासी भी हैं।

अन्य किसी देश की अपेक्षा भारत में अतीत में प्रत्यावर्तन अधिक सामान्य है। अशतः इसके कुछ बाहरी कारण बाह्य सुझावों के प्रति आग्रह-

शीलता के कारण हैं किन्तु सबसे अधिक प्रबल कारण है विशिष्ट और केन्द्रीय आत्माओं द्वारा अनवरत योग साधाना जो खुलकर या चुपचाप भारतीय समाज के सर्वसाधारण जन समुदाय में कार्यकर है। योगानुशासन मान को उसकी साधारण अवस्था की अपेक्षा पारिवार्श्विक मानस वातावरण के प्रति अत्यधिक संवेदनशील बना देता है। वह इसके प्रति सचेत रूप से सतर्क बना देता है, प्रभावों को बुद्धिमानीपूर्वक अनुभव करता है, गहन, दबे हुए रहस्यों और धुंधले संकेतों के द्वारा शीघ्रतर स्पन्दित होता है। जैसे वह शीघ्रतर ग्रहण की क्षमता वाला होता है वैसे ही प्रदान करने में भी अधिक शक्तिशाली हो उठता है। प्राचीन वेदान्त साधना का अभ्यास करते हुए वह प्राचीन वेदान्तिक विचार वृत्तियों के रूपों को पुनः प्राप्त करता है उन्हें अपने वर्तमान व्यक्तित्व में न केवल तात्विक रूप से बल्कि प्रगट रूप से भी जरा परिवर्तन करके अपने परिवेश पर उड़ेल देता है। प्राचीन युगसे आरम्भ करके आधुनिक गतिविधियों तक, जिनके हम साक्षी और सहभागी हैं, भारतीय चिन्तन और आध्यात्म के अचल वैदिकत्व का यही रहस्य है।

इस आन्तरिक प्रक्रिया के प्रभाव को बाह्य साधनों ने परिपुष्ट किया है। वैदिक दर्शनों का साम्राज्य, प्राचीन वैदिक चेतना के रस से समृद्ध धर्म का प्रभुत्व, विशिष्ट योग सम्प्रदायों की परम्परागत शिक्षा, गुरु परम्परा का सिद्धान्त और तदनुसारी साधना है बाह्य साधन। इन साधनों में से किसी के महत्त्व का अतिरंजन, स्वंय में उसी तरह का महान प्रमाद होगा जिस तरह उनकी तुच्छता का प्रतिपादन। वैदिक ज्ञान समृद्ध, बहुपक्षीय, स्थिति स्थापक और नमनीय है किन्तु अध्यात्म विषयक दर्शन अपनी तर्क पद्धति के नियमों में सीमित है। ये बाध्य हैं स्वीकार या अस्वीकार करने को। तर्क सूत्र चाहे जितना व्यापक हो, वह बहुपक्षीय, वैश्व, संलिष्ट ईश्वरीय सत्य को धारण नहीं कर सकता। तत्त्वज्ञानात्मक विशिष्ट शास्त्रों का प्रभुत्व प्राचीन वैदिक सत्य के अंशों को सुरक्षित रखने के लिये था। किन्तु समग्र और सर्वग्राहित्व तथा उदारता में यह उसे विरूप और ध्वस्त करने को तत्पर था। साथ ही

तत्व ज्ञानात्मक शास्त्र स्वंय किसी भी जन समाज पर प्रभुत्व की स्थापना नहीं कर सकता। हम आधुनिक जन अतिशय बौद्धिक शुद्ध बुद्ध रचना पर अत्यधिक महत्त्व और जोर देने में प्रवीण है। शुद्ध तत्व ज्ञान के जो शास्त्र मानव के शाश्वत मनोवैज्ञानिक अनुभव और अभ्यास से सम्बन्धित नहीं हैं वे यूरोप के आधुनिक और प्राचीन ग्रीक दर्शन के समान कुछ बुद्धिवादियों के केवल अच्छे मनोरंजन के साधन हो सकते हैं। उनसे सामान्य जन गंभीर प्रबल और स्थायी रूप से नहीं, बल्कि धीमे और परोक्ष रीति से प्रभावित होते हैं। भारतीय तत्व शास्त्र भारत जाति को संपूर्ण मानसिकता में गम्भीर प्रबल और स्थायी रूप से प्रभावित करते हैं। इसका कारण उनकी तात्विक सूक्ष्मता या उनके सर्व सामान्य विचारों की शक्तिमत्ता और उच्चता नहीं है बल्कि योग साधना की व्यापक और अभ्यस्त पद्धतियों का अवलम्बन है। मनोवैज्ञानिक अनुशासनों को योग कहा जाता है।

धर्म का प्रभाव और अधिक सक्रिय है। निस्संदेह यह सदा दर्शन की अपेक्षा अधिक सक्रिय है क्योंकि धर्म मानवता को शुद्ध बुद्धि की अपेक्षा उत्कृष्टतर भाव, विकसित भावावेश, संवेदना से हमारी प्रकृति के उच्चतर, रहस्यमय और अप्राप्य भागों को प्रभावित करता है किन्तु धार्मिक भावावेश और संवेदना में प्रबल और तीव्रतर होते हुए भी ये जो संतुष्टि एकबार देते हैं वह अधिक स्थिर होता है फिर भी अनन्तः थककर परिवर्तित हो जाता है। इसी कारण धर्म कुछ समय बाद अवनति और विनाश की ओर उन्मुख होते जाते हैं। किन्तु भारत के वेद मूलक धर्मों की अवनति और विनाश नहीं होता। वे परिवर्तित होते हैं और पुनः जन्म ग्रहण करते हैं। इन के इस सौभाग्य का कारण यही है कि इनमें वैदिक तत्व हैं। इनका कर्मकांड, प्रथा, पूजा, संस्कार, पर्व वैदिक नहीं है। यद्यपि ये प्राचीन वैदिक चिन्तन को संजोए हैं तथापि ऐसा ये अज्ञान या छिपे रूप से करते हैं किन्तु ये सभी धर्म अपने अन्तर में योगानुशासन को बनाये रखते हैं। संक्षेप में योग के किसी आचार के द्वारा ये जीवित हैं। यह मूल रूप से सदा वैदिक अभ्यास और

अनुशासन ही होता है। धर्मों का चिन्तन है कि वे अपने सिद्धान्त, पवित्र ग्रन्थ और संस्कार के आधार पर जीवित हैं किन्तु ये सभी बाहरी उपाय और साज सज्जा हैं। यथार्थ में ये उन लोगोंके कारण जीवित हैं जो इनका आचरण करते हैं। ये अपन पुरोहितों की अपेक्षा सन्तों के कारण जीवित हैं। जब तक धर्म में ऐसे महात्माओं का प्राचुर्य है जो आत्मस्थ होकर भगवान के साथ वास कर सकें, तब तक ये अपना स्थायित्व नहीं खो सकते चाहे सारी दुनियां उनके विरुद्ध हो। जब तक धर्म जीवन के इस बीज-मंत्र को खो न दे तब तक जगत की शक्ति और प्रतिष्ठा, आर्कषक कर्मकांड, घोर विश्वास और कठोर रूढ़िवाद की कोई भी माया या ज्ञानपूर्ण कोमल नमनीयता, कार्य क्षमता, अपने को अनुकूल बना लेने की विपुल शक्ति उसे अपने अवश्यभावी विलय से नहीं रोक सकती। भारत में महान वैदिक धर्मों ने सर्वदा इस बीजमंत्र को गुह्यविद्या में सुरक्षित रखा है। वे भगवान के साथ निवास करने में समर्थ पुरुषों से सम्पन्न रहे हैं। किन्तु उन्होंने इस अनिवार्य बीजमंत्र की रक्षा कभी नहीं छोड़ी। उन्होंने इसकी रक्षा के लिये पारम्परिक अभ्यास का आश्रय लिया जिसे भारत में भक्ति योग कहते हैं। इस योग के साधक, संतों और साधुओं की अनुभूतियों से हमारे धार्मिक संस्थानों में प्राचीन ऋषियों के विचारों और अनुभूतियों को भावी सन्तति के लिये सुरक्षित रखने का महा प्रयास किया गया है। यह प्रयास पुराण गाथा और बाहरी भक्ति से बहुत अधिक है। यद्यपि इन्होंने भी सहायता की है।

यह योग और धर्मशास्त्र का प्राणप्रद बीजमंत्र धर्मरक्षक मूल तत्व है। यह स्वंय आन्तरिक सत्य और इसका बाह्य स्वरूप भी है। इसने अपने अनुभव के विभिन्न भागों के परीक्षण की विविध पद्धतियों और बहुत से दर्शन सम्प्रदायों में संगठित किया गया है और उनके निचोड़ को विविध विधि से संक्षिप्त किया है। उनके सभी संप्रदायों में सारभूत अनुभव का सर्व-सामान्य कोष सुरक्षित है। जो अतिप्राचीन वैदिक उद्गम तक पहुँचता है। आज यूरोपीयों के इस विशिष्ट योग पद्धतिके स्वाभाविक अज्ञान को सुशिक्षित

भारतीयों में उनके शिक्षा-प्रसार के अंश के रूप में सफलतापूर्वक अंगीकृत कर लिया गया है। पतंजलि के राजयोग की पद्धति के साथ योग की तादात्म्य प्रकृति आज सर्वत्र दिखाई देती है क्योंकि यूरोपीय संशोधकों को केवल उसी का ज्ञान था। किन्तु योग को एक ही सम्प्रदाय या पद्धति की सीमा में बाँधा नहीं जा सकता। पातंजल योगशस्त्र केवल राजयोग और इसकी भी केवल एक ही प्रणाली से सम्बद्ध है। राजयोग की और भी सैकड़ों पद्धतियां हैं, उनके नियम और अभ्यास सूत्र भी लिपिबद्ध हैं। अन्य पद्धतियों में कुछ तो दत्तात्रेय सम्प्रदाय के समान प्राचीन और महिमामयी हैं, प्राचीन काल से स्वगुरु परम्परा की दीर्घ श्रंखलाबद्ध पीढ़ियों द्वारा भावी पीढ़ीको प्राप्त है। योग पद्धतियों की शाखा प्रशाखाओं की अधिकता, धार्मिक संघ-संप्रदायों की अक्षय उर्वरताके समान देशमें आध्यात्मिक जीवन की समृद्धि, स्वातंत्र्य और सामर्थ्य का चिन्ह और अमोघ उपकरण भी हैं। यह केवल उपकरण मात्र नहीं वल्कि अनिवार्य स्थिति है। उदाहरणार्थ योग यदि किसी एक संप्रदाय, पातंजल योग के समान सुदृढ़ महासम्प्रदाय के कठोर सिद्धान्त में औपचारिक रूप हेतु अपने को रूढ़ि और आचार बद्ध होने की अनुमति देता तो यह बहुत पहले ही विनष्ट हो गया होता या हमारे अधिकांश धार्मिक संस्कारों की तरह आत्माहीन देह हो गया होता। हमारे अन्तरस्थ परमेश्वर विविध अनुभवों के विविध आत्माभिव्यक्ति हेतु नाना प्रकार के उपलब्ध अनन्त स्वातंत्र्य की आकांक्षा रखता है। उसे विधान और व्यवस्था तो पसन्द है किन्तु जेल की गतिहीनता पसन्द नहीं है। केवल स्थूल जड़ ही अपने स्थैर्य हेतु कठोर अपरिवर्तननीय क्रियाओंके अन्धानुवर्तित्व का अवलम्वन करता है इसके उलटे अन्तरत्व का स्थैर्य उस क्रियाशीलता पर आश्रित है जिसकी नियमितता भी मुक्त और परिवर्तनशील हो। अतएव मानसिक जगन में जो कुछ अत्यन्त कठोरता से व्यावहारिक रूप धारण कर लेता है वह उससे अपने पतन की तैयारी कर लेता है। अनमनीयता के प्रति सर्वदा आग्रह सामान्य रूप से इस तथ्य का प्रतीक है कि अनन्त जीवन ने जिस देह को

अनुप्रणित किया था उससे वह पृथक होना चाहता है। भारत उस योग में भी जड़त्व की प्रवृत्ति से मुक्त नहीं है जो उसके गुप्त जीवन स्रोत तथा शाश्वत प्राण का रहस्य रहा है। उसमें एक या अन्य योग सम्प्रदाय को व्यावहारिक रूप देने हेतु पीढ़ी दर पीढ़ी तक उसके संस्कारों और अनुभवों के पुनरावर्तन की वृत्ति थी। किन्तु महान प्राणवन्त भारतीय मानस-वातावरण में उसकी ओर लौटने की वृत्ति है। इसीसे महात्माओं और महापुरुषों के प्रादुर्भाव की वृत्ति भी सदैव रही है। वे बुद्ध, चैतन्य, नानक, रामदास, रामकृष्ण की तरह किसी पूर्ण और सिद्ध सत्य के साथ पुनः जन्म लेते हैं जो किसी सम्प्रदाय के नहीं थे। उन्होंने किसी आध्यात्मिक मंत्रदृष्टा से ज्ञान प्राप्त नहीं किया था। वे ज्ञान स्रोत के लिये अपने ही अन्दर जाते थे और सनातन तथा वैश्व वेद ज्ञान के साथ पूर्व सिद्ध सत्य को लेकर प्रकट होते थे। उनका उद्गम वैश्व हैं और वे सम्पूर्ण मानवजाति और विश्व को अपनी उपलब्धि वितरण करने को प्रस्तुत रहते थे। उनका परिवेश और काल, सत्य को वहन तथा चरितार्थ करने में जितनी दूर तक समर्थ है, कम से कम वहां तक वे ज्ञान को प्रसारित करने को तैयार थे। इस तरह से मानसिक क्षेत्र में अध्यात्म को सुरक्षा और पुनरुज्जीवन देते थे। वे महान योगी हैं जो योग के किसी प्रतिष्ठित सम्प्रदाय के प्रति सत्य निष्ठा से सर्वांगीण परिणामों को पूर्ण तथा पुनः नवीन करते हैं, अपनी पावन सिद्धि को सावधानी से मुहरबन्द करके योग्यतम शिष्य के हाथों समर्पित कर देते हैं। महाप्रयाण के पूर्व अपने अलंकृत पात्र को तोड़कर जीवनदायनी सुमधुर सोमसुधा अपने आस पास के संसार पर बरसाने वाले योगी जगत में महत्तर प्रभाव पैदा कर देते हैं। धर्म और दर्शन की तरह यहाँ भी बाह्य पद्धतिबद्ध रूप ने प्राचीन सत्य के पूर्ण सत्य को नहीं तो उसके अंश को सुरक्षित रखने में बहुत मदद की है और वेद की सोमसुधा को सुरक्षित रखने के लिये सुराही का काम किया है। वैदिक सत्य से भारतीय मानस के निरन्तर प्लावित होने के कारण दर्शन, धर्मोपदेश, वैयक्तिक आध्यात्मिक अनुभव की साधना में उस सत्य की अमर

प्रतिष्ठा हेतु पुनः अमोघ प्रादुर्भाव के लिये यशभागी वे हैं जो इसके अनन्त उद्‌गम को खोजने के लिये स्वतंत्र रूप से अनन्त गुफा में प्रविष्ट हुए।

वेदों के नित्यत्व की रक्षा में ये कोई भी बाहरी शक्तिशाली उपकरण, अतिशय विलक्षण विशिष्ट गुरु परम्परा अथवा मानव स्त्रोत की अविच्छिन्न परम्परा के बिना इससे अधिक प्रभावी नहीं हो पाते। यह भारतीय परम्परा, जो दिव्य ज्ञान के मानव आधार का अविच्छिन्न उत्तराधिकार है, आधुनिक युग के यांत्रिक तार्किक स्वभाव द्वारा गलत ढंग से समझी गई है। यह दुरूह ज्ञान के संक्रमण हेतु अपरिहार्य मूलभूत अवस्था के सर्वथा यथार्थ मूल्यांकन पर सुप्रतिष्ठित है। समस्त मानवीय ज्ञान में तीन आवश्यक उपादान हैं। ज्ञेय वस्तु, वह शब्द रूप जिससे इसका प्रकटीकरण हो, उस शब्द या रूप का अर्थ जो वस्तुतः उसके अभिव्यंजना की योजिका है जिससे वस्तु को जो सदा उपस्थित है, सदैव किसी भी नियत समय पर जानना संभव हो। शब्द और रूप भी सदा सुरक्षित रह सके तथा वह अपने रहस्य को किसी भी नियत समय पर प्रकट कर सके। किन्तु यह रहस्य उस यथार्थ अर्थ में विहित है जो प्रतीक के साथ सम्बद्ध अपनी सुरक्षा हेतु चौथे माध्यम, या पात्र की अपेक्षा रखता हो। ज्ञान हेतु ज्ञेय का अस्तित्व या शुद्ध प्रतीक का अस्तित्व पर्याप्त नहीं है। उसके आशय को ग्रहण करने में समर्थ ज्ञाता भी हमें अपेक्षित है जिसे हमारे दर्शन की पारिभाषित शब्दावली में 'आप्तजन' कहा जाता है जो दक्ष और प्रवीण पात्र है। उपयुक्त शिष्य में अपने ज्ञान का संक्रामक आप्त ही हमारा भारतीय गुरु है। सरल वैज्ञानिक उदाहरणसे इसे स्पष्ट करें तो— यह सनातन सत्य है और सर्वदा सर्वदा सत्य ही रहेगा कि ओषजन-उद्‌जन के मिश्रण से जल बनता है। इस सत्य का प्रकाशक रसायन सूत्र एकबार निश्चित हो जाने पर सर्वदा लिखित रहेगा किन्तु जब तक इस सूत्र को जानने वाला वैज्ञानिक न हो जो अपने अनुभव से इसके क्रियात्मक परीक्षण को करके इसे साधित कर सके और अपने ज्ञान की विधि को अपने उत्तराधिकरी को देने में समर्थ हो तब तक सूत्र का अस्तित्व और ज्ञान मानव जाति की ग्रहण-

शक्ति से कुछ समय बाद विलुप्त होने से नहीं बचाया जा सकता। वह सूत्र केवल अबोध्य, अविश्वासपूर्ण, यंत्र मंत्रात्मक अनर्गल वचन माना जायेगा जैसे हमारे धार्मिक और योग संप्रदायों के मन्त्रों को आजकल बहुत से आधुनिक भावापन्न भारतीय मानते हैं। आध्यात्मिक विषयों में मध्यस्थ रूप मानव की ऐसी आवश्यकता किसी भी भौतिक प्रक्रिया की अपेक्षा सौ गुना अधिक तीव्रता से अनुभूत की जाती है क्योंकि स्वयं आध्यात्मिक तत्व दैनिक अनुभव से अधिक दूर है। जिस विधान से इसे बुद्धिगम्य उपलब्धि के क्षेत्र में लाया जाता है वह अतिशय कठिन और सूक्ष्म है। जिन सूत्रों में यह गुंथा है वे अपरिहार्य रूप से भ्रान्तिजनक कठिनता से बुद्धिगम्य हैं। इसीलिये ज्ञानानुभवों के महत्त्व के प्रति परम संवेदनशील और उपयुक्त आध्यात्मिक मूल वृत्ति में अद्वितीय भारतवर्ष ने वेदो के जीवित बचे रहने के लिये गुरु परम्परा की पद्धति को अनिवार्य यंत्र के रूप में संगठित किया है। ब्रह्मतत्व ज्ञेय है। वेद और वेदान्त ब्रह्म के शब्द प्रतीक और सुव्यवस्थित अभिव्यंजना है। शब्द ब्रह्म गुरु है, ज्ञान का मानवाधार जो अपने योग्यतम शिष्य में उसे संक्रमित कराता है। ऐसी गुरु परम्परा आध्यात्मिक ज्योतिर्धरों की परम्परा का निर्माण करती है जो पुरातन यूनानी पर्वों की तरह सत्य की ज्योति को पीढ़ी दर पीढ़ी पहुँचाते हैं ताकि हमारे राष्ट्र के विहान में प्राप्त पावन ज्ञान न केवल उनकी सन्ध्या तक बचा रहे बल्कि धुंधला और तमसाच्छन्न हो किन्तु काल रात्रि में भी बचा रह सके। कौन कहेगा कि वेद किसी सुदूर सन्ध्यालोक में मानव जाति के समक्ष सर्वप्रथम प्रकाशित हुए थे ? कौन कहेगा कि वर्तमान मानवता के महाप्रलय पूर्व काल की स्वप्नातीत संसिद्धि तक ये स्थिर रहेंगे ? किन्तु हम हिन्दू विश्वास करते हैं कि यह सनातन संदेश है जिसे भगवान ने अपने निर्वाचित पात्रों के द्वारा गुह्य ज्ञान के रूप में सुरक्षित रखा है जिससे सारी मानव क्रियाएं चुपचाप उद्‌भूत होती है और जिसमें सचेत पूर्णत्व के द्वारा प्रत्यावर्तन विधि निर्दिष्ट है।

इस दूरदर्शिता पूर्ण आवश्यक पद्धति हेतु हम अपने पूर्वजों के ऋणी हैं

जिन्होंने हमारे बीच वैदिक सत्य को तव भी सुरक्षित रखा जब लिखित वेदों के वास्तविक शब्द अपने मौलिक अर्थ को हमारे समक्ष नहीं प्रकाशित करते। इनकी मदद बिना दर्शन के गहन दुर्बोध सामान्य सिद्धान्त अपने जीवन को स्थायी करने में सक्षम नहीं होते, न अपने प्रचार को इतना सबल कर पाते कि रास्ते के भिखारी, खेत में किसान भी सत्य के किसी न किसी अंश से ओत-प्रोत हैं। धर्म के जीवित सत्य, उनकी स्थिर और शक्तिमती प्राणवन्तता, जो उनमें है, उसे धारण करने में समर्थ नहीं हो पाते। योग सम्प्रदाय प्राचीन वैदिक युग के प्रारंभ से आगे के युग में हमारे युग के अंधकार से गुजर कर अपने ज्ञान, विधि-विधान और अनुभूतियों के सार को संक्रमण कराने में असमर्थ होते। किन्तु सभी बाह्य परिस्थितियोंकी तरह गुरु परम्परायें भी उच्च स्थिति, विधि-विधान, अपने परिपूर्ण मौलिक गुणों के विलोप की वशीभूता हैं। रूढ़िवादी और कर्मकाण्डी सोचते हैं कि संक्रमण की यांत्रिक प्रक्रिया मात्र से सत्य की अविकृत प्राणवन्तता स्वंय ही सुरक्षित हो जाती है। किन्तु इस सुरक्षा के रास्ते में बहुत सी दुर्घटनायें होने की संभावना है। यह संभव है कि गुरु सदा पारंगत शिष्य न पा सके फिर भी वह अपना ज्ञान देता है तो पात्र उसे अपने सामर्थ्य के अनुसार ही धारण कर सकता है। फिर सर्वदा के लिये न सही तो भी एक या अधिक पीढ़ियों तक सत्य अन्धकाराच्छन्न हो जाता है। दैव दुर्योग सामान्य से अधिक होते हैं जो सामान्य विधान की दृष्टि से और कालक्रम तथा कालक्षय की दृष्टि से, जिससे विश्व प्रकृति के अनेक अंश प्रशासित हैं, आकस्मिक है। जिस मानसिक वातावरण में हम रहते हैं वह जैसे-जैसे तिमिरावरण से ढ़कता जाता है यह और घना होता जाता है, मानव की सामान्य क्षमता कम होती जाती है। फिर वह समय आ जाता है जब गुरु का तात्विक कार्य केवल अपवाद स्वरूप बच जाता है और गुरु का नाम वेतनभोगी पुरोहित बेचने लग जाते हैं अथवा जब गुरुओं के अयोग्य उत्तराधिकारी केवल सूत्र, को बिना किसी ज्ञान के प्रदान करते हैं तो वे इस सूत्र को शुद्ध रूप से सुरक्षित रखने में भी असमर्थ होते हैं:—

जैसे कि ओषजन उद्जन के मिश्रण से जल निर्माण का वैज्ञानिक सूत्र, उसके मुख्य महत्व की इकाइयों के यथार्थ परीक्षण के बिना, जरा भी ज्ञान और अभ्यास के बिना, कान में मंत्र देने के समान ही है । जब यह चरम अवनति न घटित हो तब भी, ज्ञान का संक्रमण व्यक्तियों का खेल और शताब्दी से शताब्दी तक विचार की विविध वृत्तियों के आधीन हो जाता है । उनके प्रभाव से सत्य के किसी भाग विशेष पर बल अधिक हो जाता है तो दूसरा कोई भाग उचित महत्व नहीं पाता, बहुत कुछ इसलिये छोड़ दिया जाता है कि अब वह नई पीढ़ी के व्यवहार के लिये उपयोगी नहीं रहा या इतना ऊँचा है कि प्राप्त नहीं हो सकता । जो सुरक्षित है वह भी व्यक्तिगत विचार और अनुभव की चपल चेष्टाओं के कारण हेर-फेर, विस्तार या पथभ्रष्टता की संभावना से ग्रस्त हो जाता है । इस स्थिति में जो कुछ लुप्त हो जाता या धुंधला हो जाता है वह अपने शुद्ध स्वरूप में युगों तक प्राप्त या संग्रहीत नहीं हो सकता । फिर भी गुरु परम्परा अपने मूल्य के महत्व का कुछ अंश सदैव सुरक्षित रखती है । निकृष्टतम विप्लव के उलट फेर में भी सत्य के स्वरूप का अधिकांश इसे पार कर जीवित रहने की वृत्तिवाला है । इसके रूप में सत्य का कोई न कोई अंश अवश्य बचा होता है । कोई सूत्र भी बिना सोचे समझे जप की परम्परा में, जब किसी सचेत और जिज्ञासु मानसमें या उत्साहपूर्ण और श्रद्धामयी प्रकृति में गुप्त रूप से ही बचा रहता है, भले ही पुनःप्राप्ति के लिए वह संकेत या प्रारंभ बिन्दु मात्र हो । यहाँ भी अन्य किसी बाहरी उपादान की तरह, हम सत्य के शाश्वत उद्गम, शक्तिशाली आत्मा के अनुभव की ओर वापस लौटते हैं । जो आत्मायें सम्प्रदाय, परिभाषा, सिद्धान्त, सहायक साधन, शास्त्रों के वचन से परे, पीछे और पार जाकर ज्योति की प्राप्ति के लिये अपने में वापस लौटती है, हमारे लिये हमारी नीरव पृष्ठभूमि में, मानसिक वातावरण में छुपे उन दबाये हुए सुझावों को अनुकूल प्रत्युतर देती हैं जिनसे हम आन्तरिक पोषण प्राप्त करते हैं । प्राचीन सत्य के कुछ अंश के साथ उभर पाने में समर्थ होते हैं । यह अंश

हमारे पूर्वजों को आध्यात्मिक जीवन हेतु अत्यंत अवर्णनीय विशालता, गंभीरता देता था।

सभी मानव गुरुओं की पृष्ठभूमि में और उनसे परे, हम सभी के अन्तर में सार्वभौम जगद्गुरु विराजमान हैं जिनके लिये मानवगुरु केवल मुखौटा और नाम मात्र प्रतिनिधि है। वे हमारे लिये वेद के समस्त ग्रन्थ हमारी गुह्य सत्ता में लिख कर रखते हैं। "निहितम् गुहा।याम्", वह आवृत है पर प्राप्य है हमारे श्रद्धापूर्वक निवेदन और परिप्रश्न की प्रतीक्षा में है। सचमुच सतत जिज्ञासा के पीछे रहकर हमारे हृदय में अग्नि को प्रदीप्त करता और हमारी अंधकारमय सत्ता पर सूर्योदय कराता है।

इस चिन्तन से परस्पर विरोधी किन्तु यथार्थ में परिपूरक दो सत्य सामने आते हैं:—

प्रथम— शक्तिशाली बाह्य उपादानों के बावजूद काल के कठोर विपर्ययों के कारण हमने वेदार्थ खो दिया और वेदान्त का सम्पूर्ण अर्थ हम नहीं जानते।

द्वितीय— इन दोनों प्रधान क्षतियो की योग और ध्यान की विधियों से, महात्माओं के अनुभव से परिपूर्ति की जा सकती है। यद्यपि इसमें कठिनता होगी।

हम वेदान्त के सनातन सत्य, वस्तुओं के विश्वातीत एकत्व और सार्वभौम एकत्व को बौद्धिक स्तर पर उपलब्ध कर चुके हैं। "एकमेवाऽद्वितीयय् ब्रह्म" "सोऽहमास्मि" तपस्वियों के दिव्य त्याग और वैष्णवोंके दिव्यानन्द का रहस्य और अन्य भी बहुत कुछ हैं जो सर्वोच्च और महत्वपूर्ण हैं, हमारी अमूल्य धरोहर हैं। धार्मिक आचार व्यवहार के बहुत से प्रतीकात्मक रूपों को हमने प्राप्त किया है जो हमारे आन्तरिक जीवन और बाह्य सम्पर्क में भावना बुद्धि और कार्यानुभव द्वारा हमें सनातन सत्य के साम्राज्य में प्रवेश कराते हैं

मनोवैज्ञानिक साधनाकी बहुत सी पद्धतियां, जो हमारे अधिकार में हैं, जिनके द्वारा हम अपने पुरातन गंभीर अनुभवों की पुनरावृत्ति कर सकते हैं और और यथार्थतः वैदिक सत्य के अनेक आपाततः विलुप्त विवरणों को वास्तव में अधिगत कर सकते हैं। वे अन्य रूपों में सुरक्षित हैं और आधुनिक प्रतीकों में अभिव्यक्त होते हैं। यह सब प्रचुर मात्रा में है और इसने हमें शताब्दियों से जीवित रखा है। किन्तु सत्य केवल अपनी समग्रता में ही अपये परम चमत्काकारों को कार्यकर कर सकता है। नहीं तो यदि हम उनके भोजन के टुकडों पर पलते रहें तो या यो हम बाहरी सूत्रों में अपने को लुप्त कर देने को प्रवृत्त होंगे या जीवन्त सत्य के टुकड़ों और पक्षों पर ही आग्रहपूर्वक ध्यान केन्द्रित करते रहेंगे और जव हमें विशाल और गंभीर अनुभव प्रदान करने के लिये महान आत्माओं का जागरण होगा तो हम अपने को संकुचित तथा छिछले पात्र जैसा प्रमाणित कर देंगे और अधिकांश सत्य को प्राप्त करने में अयोग्य सिद्ध होंगे तो हमारी सीमित बुद्धि और संकीर्ण प्रकृति के साथ तालमेल रखने वाले सत्य से अधिक सत्य को ग्रहण करने में असमर्थ होंगे। यदि भौतिकवाद की शक्तिशाली बाढ़ हम पर धावा बोल दे जैसा कि मानव समाज के वर्तमान यूरोपीय युग में हुआ है तो उसे अवरोधित करने के लिये शक्ति, जो कठिन किन्तु स्थायी है, हमारे में नहीं होगी। हम पराजित होंगे, पैरों के नीचे की मिट्टी खिसक जायगी और छिछले किन्तु प्रबल प्रवाह में बह जायेंगे। ज्ञान की पूर्णता, प्रकृति की पूर्णता और जीवनकौशल के लिये उपयुक्त है। अतः वेद के परिपूर्ण सत्य की पुनरुपलब्धि केवल आधुनिक बौद्धिक कौतूहल के लिये निर्णायक तत्व की कामना नहीं है बल्कि मानवजाति के भविष्य के लिये व्यावहारिक आवश्यकता है।

मेरा ऐसा दृढ़ विश्वास है कि वेद में छुपा रहस्य जब आमूलाग्र उपलब्ध हो जायगा तब दिव्य जीवन का ज्ञान और अभ्यास, उसमें संपूर्ण रूप से पारिभाषित होकर एकत्व को प्राप्त होगा। मानव जाति की दिव्य जीवन की ओर महायात्रा, बुद्धि और इन्द्रियों की तृप्ति में लम्बे भटकाव के बाद

निश्चित ही प्रतिनिवर्तित होगी। और यथार्थतः आज अपनी मूलवृत्तियों को हरावल में रखकर अन्धभावसे और अनिश्चयसे अधिकाधिक वापसी की वृत्ति होगी। यदि हम अपने प्रयाण के पत्र अनिश्चय और अंधभाव से नहीं बल्कि हमारे पूर्वजों की आन्तरिक दृष्टिसे भास्वत् तथा भव्य रूपसे अजस्र धारावत् रख सकें तो हमारी गति तीव्रतर होगी और हमारी लक्ष्य पर पहुँच और प्राप्ति होगी अधिक जयशालिनी।

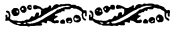

पुनः शृणोमीमरण्यभूमौ वेदस्य घोषं हृदयामृतोत्सम् ।
सुज्ञानिनामाश्रमगा मुनीनां कुल्येव पुंसां वहति प्रपूर्णा ।।९३।।

एक बार फिर मैं वनों में वेद के उस स्वर को गुंजरित होते हुए सुन रहा हूं जो हृदयमें अमृत का स्रोत है। यह मानव-नदी मुनियों के गभीर ज्ञानयुक्त आश्रम की ओर बह रही है।

—श्री अरविन्द

(भवानी भारती)

वेद

❊ हम हिन्दुओं ने इन सहस्त्रों वर्षों में जो सारा कार्य किया है, चिन्तन किया है और उद्घोषित किया है, उन सभी के मूल में, और हम जो आज हैं और भविष्य में होना चाहते हैं, उन सभी के पीछे, हमारे मत-पन्थो का दृढ़ाधार, हमारे चिन्तन के अभ्यंतर में, हमारी नैतिक और सामाजिक व्याख्या में, हमारी सभ्यताके सार तत्व में, हमारी राष्ट्रीयता की धुरी में, हमारे दर्शनों का छुपा उत्स, एक लघु वाङमय, वेद है ।

❊ इस एक बीज से अनेक रूपों में विकासमान अगणित और विभूतिमान् जन्म, जिसे हिन्दु-तत्व कहा जाता है, अपना अक्षय अस्तित्व प्राप्त कर लेता है ।

❊ बुद्ध मत भी अपनी अवान्तर शाखा इसाई मत के साथ इसी मूल से प्रवाहित है । इसने पर्सिया पर, पर्सिया के माध्यम से यहूदी मत पर, यहूदी मत, इसाई मत और सूफी मत के माध्यम से इस्लाम पर, और बुद्ध के माध्यम से कन्फ्यूशियस मत, ग्रीक और जर्मन दर्शन, ईसा और मध्ययुगीन गुह्यमत तथा संस्कृत शिक्षण और चिन्तन के माध्यम से यूरोपीय सभ्यता पर अपनी छाप छोड़ी है ।

विश्व के अध्यात्म, मत-पन्थ और चिन्तन का कोई भी अङ्ग जो आज जैसा है, वैसा नहीं होता यदि वेद नहीं होते । यह विश्व के किसी अन्य वाङमय के लिये नहीं कहा जा सकता है ।

श्रीअरविन्द

(आर्काइव्स I अप्रेल ७७)

* मुझे नहीं चाहिए भौतिक विज्ञान, मत-पन्थ या थियोसोफी, मुझे चाहिए वेद, ब्रह्म के विषय में सत्य।

* ब्रह्म के केवल सार-तत्व के विषय में ही नहीं बल्कि उसकी अभिव्यक्ति के विषय में सत्य। यह वानप्रस्थ का मार्गदर्शक नहीं बल्कि जगत के आनन्दोपभोग तथा कर्म-पथ का मार्गदर्शक और ज्योतिदीप है। वेद ही है मतमतान्तर के परे का सत्य।

* वेद वह ज्ञान है जिसे पाने के लिए मानव का समस्त चिन्तन-मनन प्रयत्नशील है:—**यस्मिन विज्ञाते सर्वम् विज्ञातम्** ।।

* मेरा विश्वास है कि वेद सनातन धर्म की आधारशिला है। हिन्दु तत्व में अन्तर्निहित दिव्यता है। इस पर पड़े पर्दे को हटाना होगा। यवनिका को उठाना होगा।

* मेरा विश्वास है कि वेद ज्ञेय है और अनुसन्धेय है।

* मेरा विश्वास है कि भारतवर्ष और विश्व का भविष्य इसके अन्वेषण और प्रयोग पर अवलम्बित है।

* वेद का उपयोग है जगत और जन-समाज के बीच जीवन-यापन हेतु, जीवन के परित्याग में नहीं।

Library IIAS, Shimla
H 294.1 Au 68 V
00099609